उपन्यास-अंश

कृति -का

चैप्टर 1

पेज 1

उसने ऊपर की ओर देखा, ठंड की परतों के बीच कुहासे की नामालूम-सी उपस्थिति अपने होने को टटोलती हुई वहाँ मौजूद थी. उनके बीच छत की दरारों से झाँकती हुई सँवलाई-सी सुबह स्वयं को अनावृत्त कर रही थी.
सामने पसरी लोहे की लंबी लकीरनुमा लाइनों को देखते हुए वह लगातार सोचती रही कि पता नहीं ट्रेन इधर सामने की तरह से आएगी या पीछे से. पीली बंुदकियों वाली सिल्क की साड़ी के पल्लू को दाहिने कंधे पर लपेटते हुए उसने पूरे प्लेटफाॅर्म, स्टेशन और लाइन को एक बार देखा, फिर अपने आसपास रखे सामनों को- होल्डाल, बड़ा सूटकेस, छोटा सूटकेस, अल्युमिनियम के छोटे-बड़े दो टं्क, एक बोरा, एक डोलची.
इतने सारे सामानों के बीच स्वयं को पाकर उसे संकोच-सा हुआ. पता नहीं दूसरे लोग क्या सोचेंगे.
उसने सुराहियों तथा रंगबिरंगे पंखे बेचने वाली बुढ़िया की ओर देखा. वह चुपचाप सामने ताकती बैठी थी. चाय के ठेले वाला पूड़ी-सब्जी के भगौनों को एक के ऊपर एक रखकर कड़ाही के नीचे स्टोव की आँच को ठीक कर रहा था. मैगजीन की दुकान बन्द थी.
“ तुम यही बैठ जाओ. इसी बक्सा पर ”
“ यहाँ ?”
“ हाँ, हाँ. बैठ जाओ. मैं ट्रेन का पता लगाकर आता हूँ ”

कृति बैठ गई.

पेज-2

“ साहेब! हमको पइसा दे दीजिए. दूसरा सवारी भी है ”
“ देखो! पहले ही तुमको बोल दिए थे कि गाड़ी में चढ़ाने पर ही छोड़ेंगे ”

जयंत ने कुली को घूरकर देखा और आगे बढ़ गए.

‘ ठीक है ’ की मुद्रा में कुली वहीं थोड़ी दूर पर उकड़ूँ होकर बैठ गया, जैसे उसे पहले से ही पता हो कि पैसा अभी नहीं मिलने वाला है.
स्टेशन अभी पूरी तरह जगा नहीं था. पूरे प्लेटफाॅर्म पर ठंड की परत हल्की खुनक जैसी छाई हुई थी. पटरियों के गिरे कागज के टुकड़ों पर, सामने प्लेटफाॅर्म पर, इधर-उधर आते-जाते लोगों के चारों ओर सुबह की धुंध बेपरवाही से मौजूद थी. एक अनदेखी चादर तले सारा वातावरण चुप्पी में डूबा हुआ. मौन. जैसे ही गाड़ी आएगी इस चादर को फेंक एकबारगी वह जाग उठेगा.
अपने में पूरी तरह गुप इस माहौल के बीच कृतिका ने इस सुबह को अपने चारों ओर लिपटा हुआ पाया. शरद की ताजी हवाओं के बीच उगी हुई इस्पात नगरी की इस भोर ने अचानक कृतिका को पहले बीत चुकी कई सुबहों के रू-ब-रू खड़ा कर दिया.

फरवरी की उस सुबह सईनी के रेस्ट हाउस में जयंत ने अचानक ऐलान किया था-
“ आज हम सामने वाले पहाड़ की चोटी पर चलेंगे. वहाँ ऊपर. ट्रेन से जहाँ सिर्फ चिकनी काली चट्टान दिखती

है, एक भी पेड़ नहीं ”
कृतिका झट तैयार हो गई थी. वे रेस्टहाउस के गेट से निकलकर स्टेशन की तरफ बढ़े थे. उन्होंने लकड़ी के ओवर ब्रिज को तेज कदमों से पार किया था और दूसरी तरफ उतर कर ऐन बाजार के बीच जा पहुँचे थे, जहाँ छोटी-छोटी दुकानों के सामने की सड़क पर जमीन पर बोरा बिछाए सब्जी बेचती औरतें बैठी थीं- पातगोभी, लौकी, हरी मिर्च, लहसुन, अदरक, लाल साग, कुम्हड़ा-डांटा, अमरूद और कच्चा केला.

उस सबों के बीच से गुजरते हुए कुछ अनुच्चरित सवाल उन दोनों को बार-बार घेरते रहे थे-

‘ एतना सुबह-सुबह इ छोरा-छोरी इदर किधर जाता? ’
‘ इ जंगल और उ पहाड़ का रास्ता इन लोगों को पता है क्या? ’

शहर में पले-बढ़े जयंत-कृतिका के लिए खुले हुए जंगल-पहाड़ का आकर्षण कए तिलिस्म की तरह था और उन्हें पता था कि इस तिलिस्म को उसके अन्दर पैठकर ही जाना जा सकता है. सौंदर्यित-ऊर्जस्वित सुबह ने तिलिस्म के सारे दरवाजों को जंगल की इजाजत से खोल डाला था और वे दोनों उनके बीच आगे बढ़ चले थे.
जंगल वहाँ पटरियों के उस पार चुप साक्षी भाव से सबों को निहारता खड़ा था. पहाड़ की तलहटी से उगकर झाड़ियाँ और पेड़ चोटी तक चले गए थे. उनकी श्याम-हरित द्युति के बीच सूरज अपनी किरणों के बल पर हर सुबह अंदर घुस आने की कोशिश करता. इधर-उधर बिखरी तमाम रोशनियों के बावजूद किसी-न-किसी कोने में, एकाध ओस की बूँद, किसी पत्ते की ओट में छिपी मुस्कराती बैठी रहती. समूचा दिन गुजर जाता ओर की बूँद तक कोई नहीं पहुँच पाता. वह साबुत बनी अपने होने को सँवारती रहती.

उस सुबह कृति और जयंत सारे जाने-अनजाने कथ्यों-तथ्यों और सुने-अनसुने प्रश्नों के बीच घने जंगल को जाने वाले रास्ते की ओर मुड़ गए थे.
साल के बड़े-बड़े पत्तों से छनकर आती धूप मानों हरेपन से रँगी-पुती थी. वे रश्मियाँ पहले तो टीक के अनगिनत वृक्षों की फुनगियों पर सजे पत्तों से टकरातीं, फिर परावर्तित होकर कृति की धानी रेशमी साड़ी के आँचल को छूतीं और तब वापस जंगली घासों के झुरमुट में गुम हो जातीं. जंगल स्वागत के अलग अंदाज को निभाता हुआ अनथका खड़ा दिखता. हवाएँ ताजगी भरी निर्मल गंध में डूबी हुई.
पगडंडियों ने धीरे-धीरे स्वयं को पहाड़ की ओर मुड़ने देना स्वीकार किया था और उन्हीं पगडंडियों पर चलकर कृति और जय चढ़ाई की ओर बढ़ चले थे. आगे जंगल अपने पूरे घने दबाव के साथ मौजूद था. वहाँ सलोनी सुथरी हवा थी, खुनक भरी हल्की गंध में लिपटी हरिअरी की तुर्श महक थी.
धूप के चकत्तों की आँखमिचोली के बीच बढ़ते चार कदमों के नीचे पूरी पृथ्वी का अलोनापन सिमट आया था. बीच-बीच में पहाड़ पर पत्ते झाड़ियों के लतर, चेहरे से,

.. लिपट पड़ते, मानों कहते हों-
“थोड़ा हमारे पास भी तो थमो. वहाँ ऊपर क्या है? चिकनी काली चट्टान. पहाड़ की छाती-सी कठोर.”
शीर्ष पर वाकई चिकनी काली आबनूसी चट्टान थी. लेकिन वहाँ एकान्त भी था गहरे तपे हुए रंगत के ठंडे लोहे जैसा.
कृति के गजभर लंबे बाल चट्टान पर छितर गए थे.
जय के उदग्र चेहरे के पीछे बिना सलवटों वाला सिंटा हुआ आसमान था.
जंगल की निस्तब्धता ने स्वयं को कंपनों में ढल जाने दिया था और ठिठकी हुई कोई कौंध उनके कंधों से

उठकर पूरे आकाश पर छा गई थी. बेआवाज जादू ने वहाँ अपना पसारा आधे खोखल तक फैला दिया था. प्लेटफार्म के अनछुए एकान्त के बीच कृतिका को सईनी कस्बे की याद शिद्दत से आई.

रेस्ट हाउस की खिड़की के बाहर पसरा विस्तृत मैदान, जिसके बेंच पर अकसर वह जयंत के साथ जा बैठती थी; वहाँ से आसमान गोलाई की परतों के बीच तना-तना हुआ दीखता, हल्के नीलेपन की तह धीरे से पिघल उठती थी. कृति को वहाँ की बारिश से भीगी सुबहों की याद आई. अनायास घिर आते श्वेत श्याम बादलों की परत के पीछे ठिठका पूरे का पूरा विद्युतलोक विरल के बीच से झाँकने लगता था और वहाँ रह-रहकर विद्युतीय कौंधन के कपाट खुलते और बन्द होते. आकाश को घेरे रहने वाले द्युलोक की जगमगाती कौंधों को कृतिका कभी भी आँख भरकर देख नहीं पाती थी.

उस कस्बे को घेरे रहने वाले पहाड़ों पर उगे जंगल की समृद्ध स्मृति ने, प्लेटफार्म पर बैठी कृतिका को अपनी हल्की हथेलियों से पूरे वातावरण सहित छू लिया.
ठीक उसी समय बीत चुके बरसों के पहले स्थित जसीडीह की सुबह सारे माहौल पर हावी होती हुई अपने पूरे अहं के साथ उभरी और उसने कृतिका को चारों ओर से

पेज-5
लपेट लिया.
कृतिका ने स्वयं को बचपन की एक अद्भुत सुबह की आकृति के बिम्बों के बीच चुपचाप घिरते हुए देखा.
" लो. इसमें से लो "
सामने की सीट पर बैठी सात-आठ की लड़की ने अपने हाथ में पकड़े बिस्किट का डब्बा कृति की ओर बढ़ाया था.
अक्तूबर महीने की उस सुबह जसीडीह स्टेशन पर खड़ी सवारी गाड़ी में माँ और बाबूजी अपने पूरे अमलेफैजे के साथ सवार हुए थे- सातों बच्चे, खाना बनाने वाले पंडित जी, छोटा टेलवा नौकर और चच्चा.
हर साल की तरह दशहरे की छुट्टियों में वे लोग वैद्यनाथधाम जा रहे थे. गाड़ी खुलने में समय था. नाश्ते के लिए वहीं स्टेशन पर बन रही पूड़ी-जलेबी के दोने बड़े भैया तथा पंडित जी एक-एक करके सबों को पकड़ा रहे थे.
सबसे छोटी कृति के हाथ में जैसे ही दोना आया, सामने बैठी बिस्किट खाती लड़की उसकी ओर सरक आई. उतनी देर से अपने बिस्किट बाँटने का ख्याल उस स्वार्थी लड़की के दिमाग में नहीं आया था. अब वह बँटवारे के लिए उत्सुक हुई थी, लेकिन कृति उसके लिए तैयार नहीं थी.
" हमको नहीं चाहिए. तुम अपना बिस्किट खाओ "

सेकेण्ड क्लास के उस डब्बे के फर्श पर पड़ती तिरछी लाल धूप ने अपने प्रतिबिम्ब को कृति के गालों पर, उसकी बाँहों और घुटनों तथा पैरों पर रच दिए थे. उसे पूरे का पूरा आलोकित कर दिया था. मानों उन हल्की सुनहली रश्मियों ने यह पहले से ही तय कर रखा था कि सुबह सवेरे जब कृति नाम की लड़की वहाँ डब्बे की उस सीट पर आकर बैठेगी तो वे पूरी गर्मजोशी तथा कोमलता के साथ उसे अपने घेरे में ले लेंगी.
रेल से अपनी याददाश्त में शायद कृतिका की यह पहली मुलाकात थी, ट्रेन खुलने की प्रतीक्षा में डूबी हुई. और आज कृति लोहे के खदानों वाले प्रदेश की ओर जा रही थी, जहाँ माल ढुलाई रेलवे का प्रथम उद्देश्य था. साथ ही रेलकर्मियों का अनन्य कर्तव्य भी.

पेज-6
उस कस्बेनुमा जगह में सिर्फ रेलकर्मियों, उनके परिवारजनों और रेलवे कालोनी के बीच रहना कैसा लगता होगा

इसकी कोई कल्पना कृतिका के मानस में नहीं थी. इतना उसे जरूर पता था कि रेलवे अफसर के रौब-दाब दूर तक फैले हुए होते हैं. लेकिन बीतते समय के साथ, बाद के वर्षों में उस रौब की धमक पूरे परिवार के हर व्यक्ति को परछाईं की तरह अपने घेरे में ले लेने की कोशिश करती है- यह कृतिका को नहीं पता था.
कृति जिस दुनिया में बतौर एईएन की पत्नी बनकर जा रही थी उसके बारे में कुछ भी उसे नहीं पता था. वह अपने बीते वर्षों के आलोक, अनुच्चरित सिद्धांतों और अपनी जादुई खुशमिजाजी के साथ वहाँ जा रही थी. कितने आश्चर्य की बात थी कि अपनी इस खुशमिजाजी के बारे में भी कृतिका को ठीक-ठाक पता नहीं था. क्या जयंत से पहले कभी किसी ने उसे कहा था कि उसकी हँसी घंटियों के मधुर झनकार की तरह वातावरण में माधुर्य की लहरें सृजित करती है? नहीं. शायद उसके पहले कृतिका कभी इतनी खुशनसीब नहीं थी.
“की है कीरती बहिन? इहाँ कहाँ?”
दिनेश भाई की आवाज पर कृति ने चैंककर ऊपर देखा.
“जफर पुर से अबइत हत की? कहाँ जाइछ? कलकत्ता?”
क्ृति उठकर खड़ी हो गई.
“न्न. हम त डोंगापोसी जाइछी.”
“इ कहाँ पड़इछई?”
“की मालूम”
“अच्छा, अच्छा! आ मेहमान?”
“उहाँ. स्टेशन मास्टर के रूम में.”

पेज-7

कृति ने जयंत के जाने की दिशा में अँगुली दिखाई.
“चाय पी इ?” बिना उत्तर की प्रतीक्षा किए दिनेश भाई चाय वाले के स्टाल की ओर बढ़ गए.
क्ृतिका मुस्कराई.
छोटू भाई ठीक ही कहता है-
“इ दिनेसवा को एस्टेशन का चाय पिए बिना खाना नहीं पचता है. एस्टेशने इसका पार्क है, एस्टेशने बाजार है. ऊँहई घूमते रहता है.”
ल्ेकिन जफरपुर से इतनी दूर आकर वहाँ के बड़े डाॅक्टर सिद्धेश्वरनाथ का लड़का वहाँ के स्टेशन पर घूमता हुआ मिलेगा, यह कृतिका को नहीं पता था.
“ले बहिन. पी. हम अबइछी.”
कृति दिनेशा भाई की पीठ को स्टेशन मास्टर के कमरे की ओर जाते हुए देखती रही और अचानक अपने शहर की स्मृतियाँ उसके आसपास सिमटने लगीं.
अपना मुहल्ला, ओवर ब्रिज के ऊपर से रिक्शे में सुबह काॅलेज जाते हुए आसपास बिखरी हुई ताजगी भरी हवा की गंध. काॅलेज की भव्य लाल इमारत और दुबगली खड़े मोटे-मोटे वृक्षों की पंक्तियाँ. सभी की परछाईं एक साथ कृति के पास दबे पाँव आ गई.
अपने घर की छत से दिखता खुला आसमान पीछे जाकर मन नदी की धारा पर झुकता-झुकता सिकन्दरपुर के पेड़ों की पंक्तियों के बीच गुम हो जाता. बचपन में दशहरे के समय तिमंजिले पर खड़े होने से रावण दहन का दृश्य वहाँ सिकन्दरपुर के उसी आकाश पर रोशनियाँ बिखेर डालता.
रावण धू-धू कर जल उठता.
माँ आँगन में खड़ी होकर आवाज लगातीं- “सब लड़िका सब नीच्चे आ ब. इहाँ देखा.................

पेज-8

बड़े भाई-बहनों के पीछे कृति भी भागती, फिर भी सबसे पीछे पहुँचती. जाकर माँ की दाहिनी तरफ सटकर खड़ी हो जाती. बायीं हथेली में उनकी साड़ी पकड़ लेती, एकदम धीरे से, पता न चले, कोई देख न ले.

अपना घर. लाल बुर्जियों, गोल खम्भों और सफेद जालीदार नक्काशी तथा रेलिंग वाला शानदार मकान.

माँ ऽ ऽ ऽ ऽ!

माँ की स्मृतियों के बीच कृतिका के गले में कुछ अटकने-सा लगा. गोल पहिए वाली कुर्सी पर बैठी माँ की आकृति की याद उसे बेचैन करने लगी. उन्हें समय पर खाना, नाश्ता मिलता होगा या नहीं, क्या पता.

वैसे शादी के बाद एक तरह से उसने स्वयं को बहुत अलग कर लिया है. वह मायके रही ही कहाँ है शादी के बाद.

लेकिन क्या माँ से स्वयं को अलग कर पाएगी कभी? माँ के प्रति अपनी जिम्मेदारियों से स्वयं को मुक्त कर पाएगी?

कृति इसका जवाब जानती है. वह कभी भी स्वयं को अलग करना चाहती ही नहीं, अलग करेगी भी नहीं, अलग करना चाहेगी भी नहीं.

उसके मानस का एक सिरा हमेशा माँ से, उनकी स्मृतियों से जुड़ा रहता है, वह जहाँ भी जाती है, माँ उसके मानस के साथ चलती हंै, स्वप्न की नाईं.

वह अंशतः उनके साथ ही रहती है मानों.

अपने कमरे से माँ के कमरे में खुलने वाले दरवाजे के पल्ले उसकी स्मृतियों के बीच हमेशा खुले रहते हैं, उसी दरवाजे से निकलकर लाठी के सहारे अपने भारी शरीर को टेकती-टेकती माँ आकर कुर्सी पर बैठ जातीं, भारी शरीर मानों कुर्सी के बीच ढह पड़ता. हाथ में पकड़ी हुई लाठी को बायीं ओर दरवाजे के कोने से सटाकर खड़ा करने के प्रयास में कई बार लाठी गिर भी जाती.

“हमरा के पानी उनी न देबे की?”

पेज-9

उनकी आवाज में मिन्नत से ज्यादा असहायता की गूँज गूँजती-

“एक मिनट माय.”

कृति पहले तिपाई लाकर सामने रखती थी. उसके ऊपर मटमैली बड़ी चिलमची. ब्रश में पेस्ट लगाकर उनके दाएँ हाथ में पकड़ा देती थी और स्टील के जग में भरकर पानी ले आती थी.

माँ के ब्रश करने के दौरान कृति कमोड का पैन उठाकर लेट्रिन में ले जाती, उसे पलटकर एक मग पानी से पैन को खँगालती.

लौटकर अपना हाथ साबुन से धोती फिर माँ का ब्रश धुलाती, उन्हें कुल्ला करने के लिए पानी देती. उसके बाद बिस्किट के साथ चाय. कृति भी वहीं बगल में बैठकर चाय पीती.

कृति को माँ पर कभी गुस्सा नहीं आता था. उनके गुस्से पर भी गुस्सा नहीं आता था. उतनी-सी उम्र में ही मानों रोल पलट गया था.

इन सुबहों में कौन उनका हाथ धुलाता होगा? शायद नीलिमा भाभी. निश्चय ही वही धुलाती होगी. दोपहर का खाना पंडित जी या दाई लाकर स्टूल पर रखते होंगे.

उन्हें घूमने वाली कुर्सी पर बिठाकर दाई या नौकर बाहर ले जाते होंगे या जेठू भाई स्वयं. कितना अच्छा होता चुनमुन भाई की नौकरी पिछले साल वहीं घर के पास ही लगी होती. आज के दिन इतनी दूर जाते हुए कृतिका के मन में एक भरोसा रहता.

यह फाँस थोड़ी कम चुभती.

कृतिका उस समय मानो वापस अपने घर पहुँच गई. माँ के कमरे से लेकर बाहर के गोलम्बर तक वह घूम आई. अपने कमरे की खिड़की के पीछे खड़े अमरूद के पेड़ को भी देखा.

दो नावों पर सवार कृतिका का मन भँवर के बीच जा फँसा.

पेज-10

शायद आगे पूरी जिन्दगी वह ऐसे ही दो नावों पर सवार रहेगी ...... जिन्दगी के बीचों-बीच डालती हुई. अगले कदम उसे आमंत्रित किया करेंगे .... समय उससे वापसी की मांग करता रहेगा.

अभी तो कृतिका आगे जाएगी.
जफरपुर से जमशेदपुर, जमशेदपुर से सईनी, सईनी से डोंगापोशी.

कृति डोंगापोसी से भी आगे जाएगी.
कृतिका डोंगापोसी से आगे जरूर जाएगी.

—